प्राचीन भारत में गणतंत्रीय चेतनाः एक अनुषीलन

डॉ. बीरेन्द्र मणि त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर–प्राचीन इतिहास विभाग
नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लोकतन्त्र आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त है जो राजनीतिक व्यवस्था को तय करने वाली एक प्रणाली है। लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था नागरिकों को अपनी अधिकार चेतना से समृद्ध करने, उनमें आवश्यक नागरिकताबोध पैदा करने का कार्य करती है। लोकतन्त्र में सत्ता धर्म, जाति, सम्प्रदाय, पूँजी आदि के बल पर प्राप्त करना सम्भव नहीं है, इसीलिए इसे सर्वाधिक कल्याणकारी राजनीतिक प्रणाली माना जाता है। यह भी सही है कि लोकतान्त्रिक समाजों में पूँजीपति वर्ग प्रत्यक्षतः नागरिकों के अधिकारों का पक्ष लेते दिखाई देते हैं किन्तु यह सदैव उनकी संदिच्छा से ही प्रेरित हो, जरूरी नहीं है। प्रायः नागरिक अधिकारों की पक्षधरता के पीछे उनका उद्देश्य एक स्वतन्त्र, अनियन्त्रित, उपभेक्तावादी समाज को बढ़ावा देने का होता है। यदि लोकतन्त्र नैतिकता से आवृत न हो तो वह पूँजीवाद की भाँति व्यक्तिवाद को बढ़ावा देनेवाला ही सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य में इस बात के सबल प्रमाण हैं कि तत्कालीन समाज बहुमत का सम्मान करता था। उपनिषदों के छात्र गुरु के समक्ष मुक्त विमर्श करते थे। ईसापूर्व सातवीं शताब्दी में भारतीय गणतन्त्र पूर्ण रूप से मजबूत हो चुके थे जब गणतान्त्रिक राज्यों की स्थापना सहज रूप में होने लगी थी। तभी यह माना जाने लगा था कि समाज का बहुआयामी और सर्वतोन्मुखी विकास तभी सम्भव है जब योजनाओं के निर्माण और उनके क्रियान्वयन में अधिकाधिक लोगों की सहमति और भागीदारी हो। समाज के जाति आधारित विभाजन का निषेध करने वाले श्रमण सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण समाज में समानता आधारित तन्त्र की स्थापना का कार्य सरल और व्यवहारिक हो गया था। किन्तु यह मानना अनुचित होगा कि ब्राह्मण धर्म नष्ट हो गया था। बौद्धधर्म को धनिकों और राजाओं का इतना समर्थन अवश्य मिला कि उसके विरोधी शिथिल पड़ गए थे। किन्तु बौद्धधर्म के विरोधी पूरी तरह शान्त नहीं हुए थे। परम्परागत ब्राह्मण धर्म की समर्थक प्रवृत्तियाँ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थीं, पुराणों तथा स्मृतियों की रचना के द्वारा जनमानस को फुसलाने और बहकाने के प्रयत्न बराबर किये जा रहे थे।

छठी शताब्दी ईसापूर्व का युग भारतीय चेतना के नवोन्मेष का स्वर्णयुग था जब तर्क और विज्ञानाधारित दर्शन को स्वीकार्यता मिलने लगी थी। बौद्धधर्म की चुनौती से ब्राह्मण धर्म में भी आत्मावलोकन की प्रवृत्ति का उदय हुआ था जिसके कारण न्याय, वैशेषिक, चार्वाक जैसे भौतिकतावादी दर्शनों का उदय सम्भव हुआ। जैन और बौद्ध धर्म ने अपने तात्विक और गूढ़विमर्श के माध्यम से सम्पूर्ण समाज में सम्वाद और विमर्श की उस धारा को पुनर्जागरित करने का प्रयास किया जो वैदिक काल के बाद अपना रास्ता भटक चुकी थी। नवीन दार्शनिक विमर्श का आग्रह धर्म को अज्ञानता से मुक्त कर, उसे अधिकाधिक मानवीय स्वरूप प्रदान करने के प्रति था जिससे जनसामान्य के बीच उनकी स्वीकार्यता में वृद्धि हुई।

बौद्धिक आन्दोलनों का प्रभाव तत्कालीन राजनीति पर पड़ना स्वाभाविक था। अब राजनीति को और अधिक मानवीय और लौकिक बनाने के प्रयास किए जाने लगे थे। इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती थी जब निर्णय के स्तर पर ज्यादा से ज्यादा लोगों की सहभागिता हो। अब शासन–प्रशासन के स्तर पर अधिकतम् लोगों को हिस्सेदारी की आवश्यकता को समझा जाने लगा था। लिच्छवि और वैशाली जैसे गणतान्त्रिक राज्यों का उदय इसी समय हुआ था। पालि एवम् संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुसर्मिथत राज्यों के अनेक सन्दर्भ मौजूद हैं। जनतान्त्रिक पहचान वाले गण तथा संघ जैसे स्वतन्त्र शब्द आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व प्रयोग होने लगे थे। महाभारत के शान्तिपर्व में राज्यकार्य के निष्पादन के लिए बहुत से प्रजाजनों की भागीदारी का उल्लेख मिलता है जो उस समय समाज में गणतन्त्र के प्रति बढ़ते आकर्षण का संकेत है– 'गणप्रमुख का सम्मान किया जाना चाहिए, इसलिए कि दुनियादारी के बहुत से कार्यों के लिए शेष समूह उसी पर निर्भर रहता है, गुप्तचर विभाग और लोकपरिषद् की कार्यवाहियों को आवश्यक गोपनीयता बनाए रखने का कार्य भी उसके ऊपर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह बहुत अनुचित होगा कि पूरा संघ या समूह के सभी सदस्य उन रहस्यों के बारे में जान पाएं, संघ–प्रमुखों को चाहिए कि आवश्यक गोपनीयता की रक्षा करते हुए सदस्यों की सुख–समृद्धि के लिए सभी के साथ मिलकर दायित्व भावना के साथ कार्य करें, अन्यथा समूह का धन–वैभव नष्ट होते देर नहीं लगेगी।[1]

सिकन्दर के भारत अभियान का इतिहास लिखने वाले डियोडोरस सिक्यूलस तथा कर्टियस रूफस ने भारत के सोमबस्ती नामक स्थान का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ पर शासन की गणतान्त्रिक प्रणाली थी, न कि राजशाही।[2] यहाँ के नागरिक मुक्त और आत्मनिर्भर थे तथा इनकी सेना में साठ हजार पैदल सैनिक, छः हजार घुड़सवार तथा छः सौ रथवान होते थे। ईसापूर्व चौथी शताब्दी के दौरान गणतन्त्र भारत में लोक प्रचलित शासन प्रणाली थी।

डियोडोरस सिक्यूलस ने भारत के उत्तर–पश्चिमी प्रान्तों में अनेक गणतन्त्रों की मौजूदगी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अधिकांश नगरों ने गणतान्त्रिक शासन व्यवस्था को अपना लिया था; और उसको बहुत वर्ष बीत चुके थे, यद्यपि कुछ राज्यों में भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के समय भी राजशाही कायम थी।[3]

इस प्रकार छठी शताब्दी ईसापूर्व तक गणतान्त्रिक शासन प्रचलन में आ गए थे, यद्यपि यह सही है कि ऐसे गणतान्त्रिक राज्य राजतन्त्रीय राज्यों से अपेक्षाकृत छोटे थे किन्तु उनके वैभव और समृद्धि के कारण बड़े राज्य उनका सम्मान करते थे। इन गणतान्त्रिक राज्यों में कृषि और व्यापार उन्नत अवस्था में थी। बौद्धधर्म ने समाज को उन बन्धनों से मक्त करने का कार्य किया जो वर्णव्यवस्था के कारण समाज में ऊँच–नीच का पर्याय बने हुए थे। इन राज्यों में नागरिकों को अपनी रूचि और कार्यक्षमता के अनुसार अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता थी, समाज में तनाव न्यूनतम् थे जिसके कारण समाज की ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग सम्भव था। इन राज्यों को संकट के समय आपसी सहयोग और समर्थन भी मिलता था। यही नहीं, गणतान्त्रिक राज्यों के पास बड़ी युद्धक सेना भी होती थी। किसी एक राज्य पर आए संकट के समय बाकी राज्य भी उसकी मदद के लिए तत्पर रहते थे। यही कारण है कि साम्राज्यवादी व्यवस्था के उस युग में जब बड़े राज्य छोटे राज्यों पर अपनी गिद्धदृष्टि जमाए बैठे थे तब भी इन राज्यों ने अपनी सुख–समृद्धि और सामाजिक समरसता के कारण अपने अस्तित्व को बनाए रखा।

प्राचीन भारत में जनतान्त्रिक कार्यकलापों का स्वतन्त्र रूप से संचालन करने वाले समूहों और उनकी विशेषताओं को अभिव्यक्त करने के लिए एक सुदीर्घ शब्दावली थी। निश्चित रूप से उनमें बहुत से शब्द ऐसे थे जो वीरता का गुणगान करते समय प्रयुक्त किए जाते थे, किन्तु उनमें से अधिकांश का प्रयोग शान्तिकाल में तथा आर्थिक समूहों और उसकी गतिविधियों की व्याख्या के लिए प्रयुक्त किया जाता था। जैसे किसी संगठन को उसके कार्य के आधार पर गण अथवा संघ का नाम दिया जा सकता था...इन संगठनों की प्रमुख विशेषता थी इनके लक्ष्यों की एकता। छठी शताबदी तक इन स्वशासित संगठनों–समितियों का प्रचलन आम हो गया था। इनके सभी निर्णय आम सहमति के आधार पर ही लिए जाते थे। आधुनिक शब्दावली में इन संगठनों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शब्द गणतन्त्र ही हो सकता है।[4]

गणतान्त्रिक भारत में सम्पन्नता और समृद्धि बहुसंख्यक वर्ग तक फैली हुई थी, यद्यपि आर्थिक स्तर पर समुदायों और व्यवसायकर्मियों में भेद अवश्य था। इसके बावजूद समाज में जागरूकता एवम् अवसरों की समानता अधिक थी। तभी तो छोटे व्यवसायियों ने भी अपने संगठन खड़े कर लिए थे जिसका समर्थन तत्कालीन साहित्य और पुरातात्विक साक्ष्यों से होता है। वैशाली और कौशाम्बी जैसे सम्पन्न नगरों का उल्लेख जातक कथाओं और पालि साहित्य में मिलता है। इन सभी राज्यों में गणतान्त्रिक शासन प्रणाली प्रचलित थी। 'छह सौ ईसवी पूर्व से दो सौ ईसवी तक, भारत पर जिन दिनों बौद्ध धर्म की पकड़ थी, जनतन्त्र आधारित राजनीति यहाँ बहुत लोकप्रचलित एवम् बलवती थी...उस समय भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत तीव्रता से चल रही थी...लोगों का एक कार्यकारी संघ भी था, जिस पर वहाँ की शासन व्यवस्था का अनुशासन चलता था। आम्रपालि जैसी अद्वितीय सुन्दर नर्तकी थी, जिसकी सुन्दरता और कला के किस्से दूर–दरू तक फैले हुए थे।...वैशाली के अतिरिक्त कपिलवस्तु तथा कुशावती जैसे नगरों का वर्णन भी बौद्धसाहित्य में ससम्मान मिलता है जो व्यापार कला और संस्कृति के महान केन्द्र थे।[5] लिच्छिवी गणराज्य की राजधानी वैशाली में 7707 राजा, 7707 राजदूत 7707 सेनापति तथा 7707 कोषाध्यक्ष किसी भी समस्या पर निष्पक्ष और निर्भीक होकर अपना विचार प्रस्तुत करते थे।[6] इस प्रतीकात्मक विवरण से स्पष्ट है कि जनमानस में गणतान्त्रिक सोच और समानताबोध विद्यमान था। सामूहिक आर्थिक कार्यक्रम, नागरिक प्रशासन में अधिकतम् की सहभागिता और समान आधिकारिता के कारण यह सब कुछ सम्भव था। अपने प्रबल नागरिकताबोध के कारण लिच्छिवियों को आलोचकों के व्यंग्य का सामना भी करना पड़ा था। व्यंग्यप्रधान रचना ललितविस्तार में कहा गया है कि यहाँ राजाओं की भरमार है– यहाँ हर कोई सोचता है 'मैं ही राजा हूँ.. .मैं ही राजा हूँ' और इस प्रकार वहाँ व्यक्ति के पद, आयु, अनुभव, मान–सम्मान को भुला दिया जाता है।[7]

पाणिनी के अष्टाध्यायी में 'जनपद' शब्द का बार–बार उल्लेख है जिनकी शासन व्यवस्था जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में होती थी। एक और जातक कथा में भी पाँच सौ लिच्छिवी राजाओं का वर्णन है। इस तरह के आख्यान तत्कालीन राजनीति में तेजी से बढ़ते आर्थिक समूहों के परिणाम थे जो आन्तरिक प्रशासन के लिए स्वतन्त्र समूह के रूप में कार्य करते थे किन्तु बाह्य आक्रमण के विरुद्ध संगठित हो जाते थे। आर्थिक रूप से समृद्ध समूह अपना स्वतन्त्र राजनीतिक गठबन्धन बना लेता था। नए गणतन्त्रों की स्थापना का कार्य भारत के किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं था। उसका प्रभाव सम्पूर्ण देश में दिखाई दे रहा था। उस समय देश में नए–नए गणतन्त्र स्थापित करने की होड़ मची हुई थी, विशेषकर उत्तर पश्चिमी सीमा पर स्थित वाहीक देशों में नए गणतन्त्रों की स्थापना का कार्य तो अपनी चरम स्थिति को प्राप्त कर चुका था, जहाँ केवल सौ परिवारों वाले गोत्र, स्वयं को एक स्वतन्त्र गणतन्त्र के रूप में स्थापित कर रहे थे।[8]

वस्तुतः उस समय भारत में छोटे–छोटे गणतन्त्रों के रूप में स्वतन्त्र आर्थिक समूहों का उदय हो रहा था। ये आर्थिक समूह इतने शक्तिशाली थे कि जिस क्षेत्र में होते वहाँ की राजनीतिक सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते थे। इनका समाज राजशाही की अपेक्षा मुक्त था और राजनीतिक निर्णय सहमति और सम्मान के आधार पर लिए जाते थे। इस समाज में एक श्रेष्ठी वर्ग भी पनप रहा था जिसके आर्थिक सम्बन्ध दूर–दराज के क्षेत्रों से बने हुए थे। आवश्यकता के समय ये श्रेष्ठी सम्राटों को श्रण देकर और समाजकल्याण के कार्यों को मुक्त हाथ से दान देकर समाज पर अपना प्रभुत्व बनाए रखते थे। धन–सम्पत्ति का बाहुल्य कई बार सामाजिक बुराइयों का कारण भी बनता था और आम्रपालि जैसी नगरवधुओं का चलन तात्कालिक समाज में निरन्तर बढ़ते उपभोक्तावादी कुसंस्कारों की ओर संकेत करता है। नगरवधुओं को राज्य का संरक्षण और समर्थन प्राप्त था और उनके ठिकाने राज्य की कमाई के प्रमुख स्रोत थे। इससे समाज के बुद्धिजीवी वर्ग में गणतन्त्रों के भविष्य को लेकर चिन्ता सताने लगी थी। बुद्ध का मानना था कि 'यदि गणतन्त्र संगठित बने रहेंगे, ...महत्वपूर्ण निर्णय मिलजुलकर आपसी सहमति से लेते रहेंगें तो वे निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर रहेंगे...सुख और समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे।' वज्जि गणराज्य के इसी आत्मनिर्भर और आत्मनिर्णय के संस्कार ने महात्मा बुद्ध को बहुत प्रभावित किया था और यही गणतान्त्रिकों की सफलता का कारण भी था।

इसी प्रकार व्यापार–व्यवसाय की उन्नति के लिए श्रेणियों का संगठन भी आपसी हितों की सुरक्षा और सामूहिक कल्याण की भावना के साथ किया जाता था। प्रायः छोटे उद्यमी, कारीगर अथवा शिल्पकार स्वयं को स्पर्धा में बनाए रखने के लिए श्रेणी के रूप में संगठित होते थे जिससे उन्हें व्यवसायिक सुरक्षा प्राप्त होती थी। परम्परागत भारतीय समाज जाति और वर्ग के आधार पर विभाजित था किन्तु श्रेणियों में कार्यविभाजन का आधार सामान्यतः व्यक्तिगत दक्षता होती थी। वस्तुतः श्रेणियाँ एक प्रकार से प्राचीन काल से चली आ रही वर्णव्यवस्था के प्रति जनमानस के सकारात्मक विद्रोह का परिणाम थी। बौद्धधर्म के विकास के कारण श्रेणियों को विकास का पूरा अवसर मिला। गणपति शब्द का प्रयोग गण अर्थात् नागरिक से भी है किन्तु प्राचीन गणपति का अभिप्राय आर्थिक समूह का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति से प्रतीत होता है। व्यापार के समय चलने वाले काफिलों में गणपति की स्थिति उनके संरक्षक के रूप में मान्य थी जिसे श्रद्धा एवम् सम्मान के साथ देखा जाता था।

भारतीय समाज के पिछड़ेपन के कारणों में एक जाति व्यवस्था प्रमुख रही है जिसने शताब्दियों से एक बड़े वर्ग को मौलिक अधिकारों से वंचित रखने का कार्य किया है। इसी ने देश को पराधीनता की ओर ढ़केला और देश शताब्दियों तक पराधीन रहा। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत की जनता ने अपनी संगठित शक्ति के बल पर आजादी हासिल किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश ने सम्भवतः पहली बार एक राष्ट्र के रूप में स्वयं को अनुभव किया। स्वतन्त्रता के बाद अनुभव किया गया कि समरस समाज सुदृढ़ राष्ट्र की आवश्यकता है, इसलिए राष्ट्र की मजबूती के लिए धर्म, जाति एवम् आर्थिक आधार पर जितने भी भेदभाव हैं, उन सभी को मिटाकर समानता पर आधारित समाज की स्थापना की जाए। लोकतान्त्रिक व्यवस्था इस लक्ष्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकती थी इसलिए देश में जाति एवम् धर्म आधारित विभाजन को अनावश्यक मानते हुए समरस समाज की स्थापना पर जोर दिया गया। गणतन्त्र प्राचीन भारत में भी जाति–वर्ग आधारित समाजों की खाई को मिटाने की कोशिश करता रहा है और वह आज भी समाज को एकसूत्र में पिरोने के लिए प्रयासरत है। आज गणतान्त्रिक संस्थाओं को और अधिक सशक्त बनाने तथा लोगों को अधिकाधिक जागरूक बनाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

[1] महाभारत, 12.107; अनूवाद– आर0सी0मजूमदार, कारपोरेट लाइफ, 251 उद्धृत स्टीव मुलबर्गर, डेमोक्रेसी इन एन्श्येन्ट इण्डिया।

[2] उद्धृत कर्टियस रूफस, हिस्ट्री ऑव अलेक्जेण्डर द ग्रेट, 9.8, क्लासिकल एकाउन्ट्स, पृष्ठ 151; डायोडोरयस सिक्यूलस बिबलिओथिका हिस्टोरिका 17.104, क्लासिकल एकाउन्ट्स, पृष्ठ 180।

[3] डायोडोरयस सिक्यूलस, 2.39, क्लासिकल एकाउन्ट्स, पृष्ठ 236।

[4] स्टीव मुलबर्गर, डेमोक्रेसी इन एन्श्येन्ट इण्डिया।

[5] जे.पी. शर्मा, प्राचीन भारत में गणतन्त्र; उद्धृत– स्टीव मुलबर्गर, डेमोक्रेसी इन एन्श्येन्ट इण्डिया।

[6] जातक 149, सम्पादक– इ. बी. कावेल, भाग छः, 1895, पुनर्मुद्रित 1957, लन्दन।

[7] ललितविस्तार।

[8] वी. एस. अग्रवाल, इण्डिया ऐज नोन टू पाणिनीः ए स्टडी ऑव द कल्चरल मैटेरियल इन द अष्टाध्यायी, उद्धृत– स्टीव मुलबर्गर, डेमोक्रेसी इन एन्श्येन्ट इण्डिया।